शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

वैशाख : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक पहला

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

सम्यक् पुरुषार्थ

''सभी पर्यायें क्रमबद्ध होती हैं, अथवा जैसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है, वैसा ही होता है—ऐसा मानें तो फिर जीव को कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहता''—ऐसा अज्ञानी लोग कहते हैं; किन्तु वास्तव में तो क्रमबद्धपर्याय और सर्वज्ञ का निर्णय हुए बिना सम्यक्पुरुषार्थ होता ही नहीं। जिसे सर्वज्ञ का निर्णय नहीं है—क्रमबद्धपर्याय का निर्णय नहीं है, और फेरफार करने की बुद्धि है, उसका पुरुषार्थ मिथ्यात्व और राग-द्वेष में ही रुका है; उसके ज्ञानस्वभाव की सन्मुखता का सच्चा पुरुषार्थ नहीं होता। और जिसे क्रमबद्धपर्याय तथा सर्वज्ञ का निर्णय है उसका पुरुषार्थ अपने ज्ञानस्वभाव की ओर उन्मुख हो गया है, वही मोक्ष का सम्यक् पुरुषार्थ है। (-चर्चा से)

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१२१

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

आत्मधर्म

वैशाख : २४८१ ☆ वर्ष ग्यारहवाँ ☆ अंक १

महाकल्याणकारी सम्यग्दर्शन होने की रीति

[भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो]

[तीर्थधाम सोनगढ़ में मानस्तंभ-प्रतिष्ठा-महोत्सव प्रसंग पर, वीर सं. २४८१, चैत्र शुक्ला ४ के प्रवचन से]

देखो, यहाँ मानस्तंभ-महोत्सव हो रहा है और उसमें सम्यग्दर्शन की अपूर्व बात आई है। मानस्तंभ जिनेन्द्र भगवान का वैभव है; उस अपार वैभव को देखते ही भव्य जीवों को ऐसा लगता है कि अहो! यह भगवान का अपार धर्मवैभव! इन सर्वज्ञभगवान को परिपूर्ण आत्मवैभव प्रगट हो गया है।—इस प्रकार सर्वज्ञभगवान का बहुमान आता है; सर्वज्ञत्व की महिमा आने से अल्पज्ञता का अभिमान नहीं रहता। और, इन सर्वज्ञभगवान को जैसा सामर्थ्य प्रगट हुआ है, वैसा सामर्थ्य प्रगट होने की शक्ति मुझमें भी है—इसप्रकार अन्तरस्वभाव का लक्ष होने से अनादिकालीन मिथ्यात्व दूर होकर अपूर्व सम्यक्त्वदशा प्रगट हो जाती है और वही सच्चा मंगल-महोत्सव है।

शुद्ध चैतन्यस्वरूप की प्रतीति और अनुभव करे, वह 'हंस' है। जिस प्रकार हंस अपनी चोंच के बल से दूध और पानी को पृथक् कर देता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी अपनी शुद्धनयरूपी चोंच के बल से कर्म और आत्मा को भिन्न-भिन्न बना कर शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है, इसलिये वह हंस है।

सम्यग्दर्शन का आत्मबोध

मोक्षदशा प्रगट होने से पूर्व साधकदशा में धर्मी जीव की दृष्टि कैसी होती है, उसकी यह बात चल रही है। पहले तो अपनी बुद्धि से शुद्धनयानुसार आत्मा का बोध होना चाहिये। यहाँ ''अपनी बुद्धि''—ऐसा कहकर ज्ञान को आत्मा की ओर उन्मुख करना बतलाया है। जो बुद्धि अन्तरोन्मुख होकर आत्मा के साथ अभेद हुई, वही अपनी बुद्धि है। इसे सिवा परोन्मुखतावाले ज्ञान का भले ही बहुत विकास हो, तथापि वह सम्यग्दर्शन का कारण नहीं है। ''मैं ज्ञानानन्द हूँ''—इस प्रकार शुद्धनय से आत्मा का बोध करना, वह सम्यग्दर्शन है।

जैनधर्म का रहस्य

अहो! '**भुयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो**' अर्थात् भूतार्थस्वभाव का आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि है;—इस संक्षिप्त सूत्र में आचार्यदेव ने जैनधर्म का रहस्य उतार दिया है। भूतार्थ का आश्रय कहो, शुद्धनयानुसार बोध कहो, द्रव्यदृश्टि कहो, ज्ञान को स्वोन्मुख करना कहो, आत्मसाक्षात्कार कहो या निर्विकल्प आत्मसंवेदन कहो-वही सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की रीति

''हे जीव! तू ज्ञायक है, अपने ज्ञानानन्द आत्मा में अभेद दृष्टि कर''—ऐसा श्रीगुनु ने कहा। वह सुनने और समझने की जिज्ञासा होने से मोह की मंदता हुई और उस तरफ ज्ञान का लक्ष गया; किन्तु वह भी अभी सम्यग्दर्शन का सच्चा कारण नहीं है; क्योंकि उसमें भी अभी परसन्मुख वृत्ति है। उस पर की ओर का तथा राग का लक्ष छोड़कर, शुद्धनय से अंतर में ज्ञायकस्वभाव के सन्मुख होकर उस का तन्मयरूप से अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन क्या वस्तु है ?

देखो भाई! यह आत्मा के अपने घर की वस्तु है। सम्यग्दर्शन किसी पर की वस्तु नहीं है, वह कहीं बाहर से नहीं आता, किन्तु आत्मा के अपने स्वभाव की वस्तु है; वह अंतर के अवलोकन से प्रगट होता है; उसके लिये रुचि के अपूर्व उल्लास से अंतर में बारम्बार मंथन करना चाहिये। प्रभो! तेरी प्रभुता एक समय में अनंत गुण से परिपूर्ण है, उसमें अन्तरोन्मुख हो... अन्तर्दृष्टि करके अपनी प्रभुता का अवलोकन कर, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है... वहाँ देव-गुरु का अवलंबन नहीं है; वहाँ राग का काम नहीं है, वहाँ किसी निमित्त का या व्यवहार का आश्रय नहीं है; वहाँ तो अकेले अपने भूतार्थस्वभाव का ही अवलंबन है—उसी का आश्रय है—उसी का अनुभव है। ''भूतार्थ

द्रव्य आश्रय करने योग्य है और पर्याय आश्रय करनेवाली है''—ऐसे भेद भी उस अनुभव में नहीं हैं; वहाँ द्रव्य-पर्याय के भेद का लक्ष छूटकर अभेद आत्मा के आनन्द का ही अनुभव है।—आत्मा में ऐसी अनुभवदशा प्रगट हो, तभी से धर्म का प्रारम्भ होता है।

धर्मी आत्मा का पुरुषार्थ

—ऐसा शुद्धात्मा का अनुभव किस प्रकार होता है?—तो कहते हैं कि अपने पुरुषार्थ से ही होता है। सम्यग्दृष्टि अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकस्वभावरूप अपने को अनुभव करता है। ज्ञायकस्वभाव तो अनादिकाल से था ही, किन्तु उसका भान नहीं था; जब अपूर्व पुरुषार्थ द्वारा उसका भान हुआ कि वह ज्ञायकस्वभाव प्रगट हुआ-ऐसा कहा। देखो, यह धर्मी आत्मा का पुरुषार्थ! निमित्तादि परवस्तु को प्राप्त करने या उसे दूर करने में तो आत्मा का पुरुषार्थ है ही नहीं; और अंतर में शुभाशुभ वृत्तियाँ हों, उनमें भी आत्मा का सम्यक् पुरुषार्थ नहीं है; शुद्धनयरूप से परिणमित होकर अपने भूतार्थस्वभाव को जानने और उस ज्ञायकस्वभाव का प्रगट अनुभव करने में ही आत्मा का सम्यक् पुरुषार्थ है;—ऐसा पुरुषार्थ जीव ने अनंतकाल में एक क्षणमात्र भी नहीं किया। व्यवहार के आश्रय से मंदकषाय का पुरुषार्थ जीव ने अनंत बार किया; उसे यहाँ 'अपना पुरुषार्थ' नहीं कहते; ज्ञान को अन्तर स्वभावोन्मुख करके अपने परमार्थ शुद्धस्वभाव का अनुभव करे, वही ''अपना पुरुषार्थ'' है; ऐसे पुरुषार्थ का नाम धर्म है। धर्मी का पुरुषार्थ अन्तर में समाहित होता है, बाह्य में नहीं जाता। अनादि से भगवान आत्मा अप्रसिद्ध था; वह अब अपने अंतर के पुरुषार्थ से धर्मी को प्रसिद्ध हुआ यानि प्रगटरूप से अनुभव में आया।

सम्यग्दृष्टि-हंस

अहा! देखो यह 'आत्मख्याति!' देखो, यह भगवान आत्मा की प्रसिद्धि की रीति! ...यह महाकल्याणकारी सम्यग्दर्शन का उपाय! इस शुद्ध चैतन्यस्वभाव की प्रतीति और अनुभव करे, वह हंस है। जिस प्रकार हंस अपनी चोंच के बल से दूध और पानी को पृथक् कर देता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपनी शुद्धनयरूपी चोंच के बल से कर्म और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानकर शुद्ध आत्मा का अनुभवन करता है; इसलिये वह ''हंस'' है; और उस शुद्ध आत्मा में एकदम लीन होकर चैतन्यस्वरूप के अतीन्द्रिय आनन्द में झूलनेवाले वीतरागी मुनिवर ''परमहंस'' हैं। अन्तर्मुख दृष्टि करके जहाँ शुद्ध चिदानंदस्वभाव का अवलम्बन लिया, वहाँ उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन का उत्पाद हुआ और मिथ्यात्व का व्यय हुआ; तथा निमित्त की और भेद की रुचि छूट

गई, व्यवहार के आश्रय की बुद्धि टल गई। व्यवहार के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन नहीं होता, भूतार्थ स्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है। सम्यक्त्वी की दृष्टि में से भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन एक समय भी नहीं छूटता। यदि एक समय भी दृष्टि में से भूतार्थस्वभाव का अवलम्बन छूटकर व्यवहार की रुचि हो तो वहाँ सम्यग्दर्शन नहीं रहता; इसलिये यह महान सिद्धान्त है कि आत्मा के भूतार्थस्वभाव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन है।

पूर्वकाल में जीव, सम्यग्दर्शन को क्यों प्राप्त नहीं हुआ ?

अनादिकाल से जीव एक क्षणमात्र भी सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर सका, उसका कारण क्या ?—सम्यग्दर्शन अपूर्व है तो उसका कारण भी ऐसा अपूर्व होना चाहिये जो पूर्वकाल में कभी नहीं किया। व्यवहार मुनिव्रत धारण करके शुभभाव से अनंतबार नवमें ग्रैवेयक तक गया, तथापि सम्यग्दर्शन क्यों प्राप्त न कर सका ? सबकुछ करने पर भी ऐसा कौन-सा साधन शेष रह गया, उसका अंतर में विचार करना चाहिये। इस संबंध में श्रीमद् राजचन्द्रजी ने कहा है कि :—

यम नियम संयम आप कियो, पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लयो मुखमौन रह्यो, दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो।
जप भेद जपे तप त्यों ही तपे, उरसें ही उदासी लही सब सें;
सब शास्त्रन के नय धारि हिये, मतमंडन खंडन भेद लिये;
वह साधन बार अनंत कियो, तदपि कछु हाथ हजु न पर्यो;
अब क्यों न विचारत है मन सें, कछु और रहा उन साधन सें;
बिन सद्गुरु कोई न भेद लहे, मुख आगल है कह बात कहे ?

जीव ने सबकुछ किया, फिर भी ऐसा कौन-सा साधन शेष रह गया कि जिससे उसका भव-भ्रमण न रुका-वह यहाँ कहते हैं—अपने भूतार्थस्वभाव के अवलम्बनरूप सच्चा साधन जीव ने कभी नहीं किया। भूतार्थस्वभाव को भूलकर बाह्य में सब किया, किन्तु भूतार्थस्वभाव को दृष्टि में नहीं लिया; इसीलिये न तो जीव को सम्यक्त्व हुआ और न उसका भवभ्रमण मिटा। धर्मी जीव को राग होता है; किन्तु उस समय भी रागरहित भूतार्थस्वभाव की दृष्टि उसे नहीं हटती। अज्ञानी तो राग में ही एकाकार होकर उससे धर्म मानता है; किन्तु राग से कभी धर्म नहीं होता। ज्ञानी को जो शुभराग होता है, वह भी धर्म का कारण नहीं है। ज्ञानी ने शुद्धनय से अपने शुद्ध-भूतार्थस्वभाव को जाना है, उसी के आश्रय से उसे धर्म होता है। यही धर्म का साधन है; यह साधन जीव ने पूर्वकाल

में कभी नहीं किया। जब जीव सच्चा साधन समझा ही नहीं, तब वह करे कहाँ से ? अपनी कल्पना से अन्य सब साधन—व्रत, तप, पूजा शास्त्राभ्यास आदि किये, किन्तु शुद्धनयानुसार अपने वास्तविक स्वरूप का बोध कभी नहीं किया। मैं कौन हूँ और मेरा सच्चा स्वरूप क्या है, वह नहीं समझा। इसलिये ज्ञानी बारम्बार कहते हैं कि हे भाई! अब तू अन्तर्मुख पुरुषार्थ से शुद्धनय का अवलम्बन लेकर अपने परिपूर्ण स्वरूप को जान; अपने आत्मा को रागरहित शुद्धस्वभावरूप देख,—जिससे तेरे भवभ्रमण का अन्त आ जाये।

धर्म की रीति

धर्म की जो रीति है, उसके बदले अन्य रीति से धर्म करना चाहे तो नहीं हो सकता। जैसे—किसी को हलवा बनाना हो तो पहले उस की रीति जानना चाहिये। पहले आटे को घी में सेककर फिर उसमें शक्कर का पानी डाला जाता है; उसके बदले कोई आटे को घी में सेके बिना कच्चे आटे में पानी डालने लगे तो वह मूर्ख कहलायेगा, उसका हलवा नहीं बन सकेगा। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म है; उसमें प्रथम सम्यक्श्रद्धा किये बिना चारित्र और व्रत-तप माने तो वह महामूढ़ है। प्रथम अन्तर में आत्मा की निश्चयश्रद्धा-ज्ञान को जमाये बिना एकाग्रता काहे में करेगा ? सम्यग्दर्शन के बिना मात्र शुभभाव करके उसमें धर्म और मुनिपना मान लेगा तो मिथ्यात्व का ही पोषण होगा।

जैनधर्म का क्रम

जैनधर्म का क्रम ऐसा है कि प्रथम सम्यग्दर्शन होता है और फिर सम्यक्चारित्र होता है; और वह सम्यग्दर्शन भी निश्चयस्वभाव के अवलमबन से ही होता है। उसके बदले जो सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र माने अथवा ऐसा माने कि व्यवहार करते-करते उससे निश्चय-श्रद्धा-ज्ञान हो जायेगा, तो वह जैनधर्म का क्रम नहीं जानता है। जैसे—कोई कहे कि हलवा बनाते समय बाद में तो पानी डालना ही है, तो पहले से ही क्यों न डाल दें ?—तो वह मूर्ख है। उसी प्रकार कोई कहे कि सम्यग्दर्शन के पश्चात् बीच में तो व्यवहार आता ही है, तो फिर उसे पहले ही कहो न ?—तो ऐसा माननेवाला भी मूढ़ है। अरे भाई! निश्चय-श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुए बिना तेरे व्यवहार को हम व्यवहार कहते ही नहीं; और निश्चयश्रद्धा-ज्ञान होने के पश्चात् ज्ञानी को जो शुभरागरूप व्यवहार होता है, उसके अवलम्बन से भी कहीं धर्म नहीं है। आत्मा के चिदानंदस्वभाव के अवलंबन से ही धर्म का प्रारम्भ होता है और तत्पश्चात् भी उसी स्वभाव के अवलम्बन से वह टीकता है तथा उसमें वृद्धि

होती है। इसके सिवा धर्म का कोई दूसरा उपाय नहीं है। पहले व्यवहार और फिर निश्चय; यानी शुभराग करते-करते धर्म होता है;—ऐसा जो मानता है, वह राग को ही आत्मा मानता है; उसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में एकाग्रता नहीं होगी किन्तु राग में ही एकाग्रता होगी। राग क्या है और रागरहित स्वभाव क्या है—उसे पहिचान कर पहले शुद्ध आत्मा की श्रद्धा करे, तभी से धर्म का प्रारम्भ होता है।

मंगल-महोत्सव

देखो, यहाँ मानस्तंभ का महोत्सव चल रहा है, और उस में सम्यग्दर्शन की अपूर्व बात आई है। जिस प्रकार मानस्तंभ को देखने से मानी जीवों का मान गल जाता है, उसी प्रकार यह बात समझे तो अनादिकालीन मिथ्यामान गल जाये। मानस्तंभ जिनेन्द्र भगवान का वैभव है; उस अपार वैभव को देखते ही भव्य जीवों को ऐसा लगता है कि अहो! यह भगवान का अपार धर्मवैभव! इन सर्वज्ञभगवान को परिपूर्ण आत्मवैभव प्रगट हो गया है।—इस प्रकार उन्हें सर्वज्ञ भगवान का बहुमान आता है; सर्वज्ञता की महिमा आने में अल्पज्ञता का अभिमान नहीं रहता। और सर्वज्ञ भगवान को जैसा सामर्थ्य प्रगट हुआ है, वैसा ही सामर्थ्य प्रगट होने की शक्ति मुझ में भी है;—इस प्रकार सवभाव का अन्तरलक्ष होने से अनादिकालीन मिथ्यात्व दूर होकर अपूर्व सम्यक्त्वदशा प्रगट हो जाती है और वही सच्चा मंगल-महोत्सव है।

जगत को अनादि से दुर्लक्ष्य ऐसे—

चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति के उपाय का वर्णन

'अहो! अंतर में परमचैतन्यतत्त्व विद्यमान है, उसे जगत के जीव समझे और आत्मानन्द के सन्मुख हों!'—ऐसा विकल्प संतों को उठा और वाणी निकली। किन्तु चैतन्यतत्त्व तो वचनातीत है और विकल्प से भी पार है, जीव स्वयं जागृत होकर पुरुषार्थ द्वारा चैतन्यतत्त्व के सन्मुख जाये तो अंतर से चैतन्य की झनकार उठे और आनंद का वेदन हो। ज्ञान को अंतर्मुख करके अन्तर से चैतन्य की झनझनाहट आई कि उसी समय चैतन्यतत्त्व लक्ष में आता है और उसके अपूर्व आनंद का अनुभव होता है! इसलिये हे जीव! तू वाणी या विकल्प पर अपने लक्ष का जोर मत देना, किन्तु शुद्धचैतन्यतत्त्व पर ही लक्ष का जोर देकर उसे ध्येय बनाना!

[राणपुर में वैशाख शुक्ला १० वीं के दिन पूज्य गुरुदेव का प्रवचन]

आज भगवान महावीर का केवलज्ञान-दिवस है, इसलिये मांगलिक है। आत्मा का परमार्थ स्वरूप जानकर उसमें परिपूर्ण एकाग्रता द्वारा भगवान को आज केवलज्ञान प्रगट हुआ। आत्मा का परमार्थ स्वरूप क्या है, उसका वर्णन इस पद्मनंदी पंचविंशतिका के "निश्चय पंचाशत" अधिकार में किया है। आत्मा का निश्चय अर्थात् वास्तविक शुद्धचैतन्यस्वरूप क्या है, उसका यथार्थ ज्ञान जीव ने पहले कभी नहीं किया; वह निश्चयस्वरूप के ज्ञान बिना अनादिकाल से संसार में भटक रहा है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करे तो अनादिकालीन अज्ञान दूर होकर संसार परिभ्रमण का अन्त आ जाये। इसलिये यहाँ इस अधिकार में शास्त्रकार यह बतलाते हैं कि आत्मा का निश्चयस्वरूप शुद्धचैतन्यमूर्ति है। उसमें मंगलाचरण करते हुए चैतन्य की महिमा करते हैं:—

दुर्लक्ष्यं जगति परं ज्योतिर्वाचा गणः कवीन्द्राणाम्
जलमिव वज्रे यस्मिन्नलब्धमध्यो बहिर्लुठति॥१॥

जिस प्रकार हीरे-रत्न में पानी भीतर प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु बाहर ही रहता है; उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप ज्योति भगवान आत्मा में बड़े-बड़े कवियों की वाणी भी प्रविष्ट नहीं हो सकती—चैतन्य के बाहर ही रहती है;—ऐसा चैतन्यस्वरूप जगत में दुर्लक्ष्य है। वाणी के

अवलम्बन से या उस ओर के राग से लक्ष में आ जाये—ऐसा चैतन्यस्वरूप नहीं है। वाणी और राग का अवलंबन छोड़कर ज्ञान को अंतर-स्वभावोन्मुख करे तो आत्मा लक्ष में आये और उसके अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव हो। अहो! भगवान आत्मा वचनातीत है; उसमें वाणी का प्रवेश नहीं है। संतपुरुष वाणी से उसका अमुक वर्णन करते हैं किन्तु स्वयं अंतर्लक्ष करके अनुभव में ग्रहण करे तो वाणी को निमित्त कहा जाता है; किन्तु वाणी में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह आत्मा का स्वरूप बतला दे। जिस प्रकार ताजे घी के स्वाद का अनुभव होता है किन्तु उसे वाणी द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता; उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव के अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद अंतरज्ञान द्वारा अनुभव में आता है किन्तु वाणी द्वारा उसका पूरा वर्णन नहीं हो सकता। चैतन्यस्वरूप आत्मा वाणी से अगोचर होने पर भी, ऐसा नहीं है कि ज्ञान में न समझा जा सके। चैतन्यस्वरूप आत्मा, इन्द्रियों से या विकल्पों से लक्ष में नहीं आ सकता; इसलिये दुर्लक्ष्य है; किन्तु ज्ञान को अंतर्मुख करके लक्ष में ले तो भगवान आत्मा ज्ञात हो सकता है। जीव ने अनादि से बाह्य में ही देखा है किन्तु अन्तरोन्मुख होकर आत्मावलोकन कभी नहीं किया, इसलिये वह दुर्लक्ष्य है। जिस प्रकार हीरे में पानी का प्रवेश नहीं होता, उसी प्रकार चैतन्यरत्न में वाणी का या विकल्प का प्रवेश नहीं होता। देखो, आचार्यदेव को विकल्प उठा है और वाणी से कथन होता है, तथापि निरभिमानता से वस्तुस्वरूप की घोषणा करते हैं कि भाई! हमारे अरूपी आत्मा में से यह वाणी नहीं निकलती, और न इस वाणी द्वारा आत्मा का ज्ञान हो सकता है। देखो, सत्य समझनेवालों को ऐसे संतों की वाणी ही निमित्त होती है, इससे विपरीत वाणी निमित्तरूप नहीं होती; तथापि चैतन्यस्वरूपी आत्मा तो उस वाणी से भी अगोचर है। वाणी में तो अमुक संकेत आते हैं, किन्तु अंतर में ज्ञान द्वारा स्वयं लक्ष में ले ले तो उस ज्ञान द्वारा आत्मा समझ में आ सकता है। भगवान! तेरा आत्मा चैतन्यज्योति है, वह स्व-पर का प्रकाशक है। जिस प्रकार अग्नि की ज्योति में पाचक, दाहक और प्रकाशक—ऐसे तीन शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार चैतन्य-ज्योति आत्मा में सम्यग्दर्शन की ऐसी पाचकशक्ति है कि त्रिकाली ज्ञानानंदस्वभाव को अन्तरंग प्रतीति में पचा देता है, तथा सम्यग्ज्ञान का स्वभाव स्व-परप्रकाशक है और सम्यक्चारित्र का स्वभाव, रागादि को भस्म कर दे, ऐसा दाहक है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है; उस स्वभाव में परिपूर्ण जानने की शक्ति है। जिसका जो स्वभाव हो, वह अपूर्ण नहीं होता। आत्मा की वर्तमान पर्याय में व्यक्तज्ञान अल्प होने पर भी, उस ज्ञान को अन्तरोन्मुख करे तो आत्मा के स्वभाव में परिपूर्ण ज्ञान की शक्ति भरी है, वह प्रतीति में आती है;

और पूर्ण स्वभाव की प्रतीति होने से ''अल्पज्ञता या विकार जितना मैं''—ऐसी पर्यायबुद्धि छूट जाती है। जिस प्रकार लैंडी पीपल के प्रत्येक दाने में चौंसठपुटी चरपराहट की शक्ति है; चौंसठपुटी चरपराहट प्रगट होने से पूर्व भी उसमें वैसी शक्ति भरी है; उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में तीनलोक को जानने की सर्वज्ञशक्ति विद्यमान है; सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व भी स्वभाव में सर्वज्ञता की शक्ति भरी है; अल्पज्ञता के समय भी धर्मात्मा को अपने परिपूर्ण स्वभाव सामर्थ्य की ऐसी प्रतीति है कि मेरा स्वभाव अल्पज्ञ रहने का नहीं है किन्तु सर्वज्ञ होने का मेरा स्वभाव है; सर्वज्ञता की शक्ति इसी समय मेरे आत्मा में विद्यमान है। मुझमें सर्वज्ञशक्ति है, उसी के आधार से मेरी सर्वज्ञदशा प्रगट होगी; इसके सिवा अन्य किसी के आधार से मेरी सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं हो सकती।

रागरहित शुद्ध चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान होने पर भी धर्मी को अभी निचली भूमिका में पुण्य-पाप के भाव आते अवश्य हैं, किन्तु वहाँ अंतर में पुण्य-पाप से पार ज्ञानानन्दस्वरूप की दृष्टि उनके वर्तती है; दृष्टि की शूरता धर्मी के एक क्षण भी नहीं हटती; राग के समय भी राग से भिन्नरूप दृष्टि का परिणमन वर्तता है। अज्ञानी तो ''राग ही मैं हूँ, राग से मुझे लाभ होता है''—ऐसा मानकर राग के साथ एकत्वरूप से परिणमित होता है, इसलिये राग से भिन्न चैतन्यतत्त्व उसे दुर्लक्ष्य है। राग में ऐसी शक्ति नहीं है कि चैतन्य का लक्ष करा सके। संपूर्ण चैतन्यतत्त्व को पचा सके, ऐसी शक्ति राग में नहीं है किन्तु सम्यक्श्रद्धा में ही ऐसी शक्ति है कि पूर्ण चैतन्यतत्त्व को प्रतीति में पचा लेती है। लोग कहते हैं कि—''पूँजी किसान नहीं पचा सकता, बनिया पचा सकता है;'' उसी प्रकार यहाँ आत्मा-व्यापारी अपने चैतन्य उपयोग के व्यापार में अखण्ड चैतन्यस्वभाव को लक्ष में लेकर प्रतीति में पचा ले—ऐसी उसकी शक्ति है। इसके अतिरिक्त शरीर में ऐसी शक्ति नहीं है और न राग में ऐसी शक्ति है कि उसके द्वारा अखण्ड चैतन्यस्वभाव प्रतीति में आ जाये।

बाह्य में पैसादि का संयोग होने या दूर होने में जीव का कोई कार्य नहीं है; पुण्य हो तो पैसादि की प्राप्ति होती है और पुण्य न हो तो लाख उपाय करने पर भी पैसा नहीं रहेगा। जिनमन्दिर आदि कार्यों में लाखों रुपये खर्च करने पर भी पैसा कम नहीं होता। पुण्य हो तो पैसे की कमी नहीं होती, और पुण्य की कमी हो तो पैसा चला जाता है; इसलिये आत्मा पैसादि परवस्तुओं को पचा सकता है—यह बात सच्ची नहीं है; किन्तु अंतर में आत्मा के अपार चैतन्यनिधान को प्रतीति में लेकर पचा देने की शक्ति सम्यक्श्रद्धा में है, इसके सिवा पुण्यपरिणामों में भी ऐसी शक्ति नहीं है।

सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि हे जीव! तुझमें सर्वज्ञता की शक्ति है, उसकी प्रथम प्रतीति तो कर! अंतर्मुख होकर अपने चैतन्यनिधान में दृष्टि तो कर! अन्दर झाँकते ही निहाल कर दें—ऐसे चैतन्यनिधान तुझमें भरे हैं।

पुनश्च, जिस प्रकार अग्नि की ज्योति में प्रकाश और दाहक स्वभाव है, उसी प्रकार चैतन्य-ज्योति भगवान आत्मा में स्व-पर को जानने की स्व-परप्रकाशक शक्ति है; और ज्ञान में एकाग्र होकर रागादि विकार को जलाकर भस्म कर डाले—ऐसा दाहक स्वभाव है, अर्थात् सम्यक्चारित्र द्वारा रागादि विकार का नाश कर देने की चैतन्यज्योति की शक्ति है। इस प्रकार चैतन्यतत्त्व की सम्यक्श्रद्धा में सम्पूर्ण आत्मा को पचा देने की पाचकशक्ति है; सम्यक्ज्ञान में स्व-पर को जानने की प्रकाशकशक्ति है और सम्यक्चारित्र में रागादि को जला देने की दाहकशक्ति है। ऐसे सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रस्वरूप चैतन्यतत्त्व है, वह जगत में उत्तम है। अहो! ऐसा परम चैतन्यतत्त्व जगत को दुर्लक्ष है। यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि चैतन्यतत्त्व स्वसंवेद्य है, वह स्वयं अपने ज्ञान से ही ज्ञाता हो, ऐसा है; इसके सिवा राग से या वाणी से वह ज्ञात नहीं हो सकता। वाणी से यह अगोचर है। वाणी में उसका अमुक कथन आयेगा, किन्तु वाणी को निकालना, वह हमारा स्वभाव नहीं है; हमारे आत्मा में से वाणी नहीं निकलती और तुम्हारे आत्मा में वह प्रविष्ट नहीं होती। इसलिये वाणी के लक्ष से आत्मा नहीं पकड़ा जा सकता, किन्तु वाणी का लक्ष छोड़कर ज्ञान को अन्तरस्वभावोन्मुख करे तो आत्मा लक्ष में आ सकता है। ज्ञान के सिवा रागादि से या वाणी से दुर्लक्ष है। अंतरस्वभाव को लक्ष में लेने का सच्चा प्रयत्न जीव ने अनन्तकाल में एक क्षण भी नहीं किया है। पुण्य-पाप मुझे हितरूप हैं और अनुकूल संयोग मुझे सहायक होंगे—ऐसा मानकर जीव बाह्य लक्ष में ही अटका है, किन्तु अंतर में संयोग और राग से पार अपने चैतन्यतत्त्व का लक्ष कभी नहीं किया, इसलिये वह दुर्लभ है। किन्तु यदि यथार्थ ज्ञान द्वारा लक्ष में लेना चाहे तो वह दुर्लक्ष नहीं है, स्वसंवेदन ज्ञान से अनुभव में आता है। जिस प्रकार काली मिर्च की चरपराहट और मिर्च की चरपराहट—इन दोनों के रस में अंतर है; वह ज्ञान से ख्याल में आता है, किन्तु वाणी से पूरा नहीं समझाया जा सकता; उसी प्रकार यहाँ संत कहते हैं कि अहो! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय चैतन्यरस का पिण्ड है; उस चैतन्यरस का स्वाद अनुभव में आता है, किन्तु वाणी द्वारा उस शांत आनन्दरस का वर्णन पूरा नहीं हो सकता। प्रभो! वाणी का प्रवेश आत्मा में नहीं है, और विकल्प द्वारा भी आत्मा के स्वभाव में प्रवेश नहीं हो सकता।—ऐसी तेरे चैतन्य की महिमा है। चैतन्यस्वभाव का

ऐसा सामर्थ्य अंतर में अपने को भासित न हो तो वाणी क्या करे ?

(१) चैतन्यस्वभाव की सामर्थ्यता

(२) विकार की विपरीतता और

(३) संयोग की पृथक्ता

—इन तीनों प्रकारों को बराबर पहिचाने तो संयोग और विकार का लक्ष छोड़कर चैतन्यस्वभाव में लक्ष को एकाग्र करे। संयोग और विकार से पार ऐसे चैतन्यस्वभाव का सामर्थ्य जब तक लक्ष में न आये, तब तक ज्ञान उस में स्थिर नहीं होता और सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाता। अनादि से जीव ने संयोगों का और राग का ही लक्ष किया है, किन्तु अपने चैतन्यसामर्थ्य को कभी लक्ष में नहीं लिया, इसलिये उसे दुर्लक्ष कहा है। यहाँ चैतन्यतत्त्व को ''दुर्लक्ष'' कहकर ऐसा समझाना है कि हे जीव! तू उसे लक्ष में लेने का अंतरंग उद्यम कर; वह लक्ष में आ ही न सके—ऐसा दुर्लक्ष का आशय नहीं है। वाणी से, इन्द्रियों से या राग से दुर्लक्ष्य होने पर भी अन्तर्मुख ज्ञान से वह लक्ष में आता है, इसलिये अपने ज्ञान द्वारा चैतन्यतत्त्व को लक्ष में लेने का उद्यम कर- ऐसा उपदेश है।

जिस प्रकार हीरे में पानी अन्दर प्रवेश नहीं करता, किन्तु बाहर ही रहता है; उसी प्रकार चैतन्यरत्न में बड़े-बड़े योगियों की वाणी भी प्रवेश नहीं कर सकती। वाणी तो जड़ और रूपी है, अरूपी चैतन्यतत्त्व में उसका प्रवेश नहीं है। वाणी, वाणी के योग से निकलती है, किन्तु यदि उसका भाव लक्ष में लेकर स्वयं चैतन्यतत्त्व को ग्रहण न करे तो वाणी में भी समझा देने की शक्ति नहीं है। गणधरदेव की वाणी में भी चैतन्यदेव का पूरा वर्णन नहीं आया। वचनानीत वस्तु वचन में कैसे आ सकती है ? वचन में तो स्थूल वर्णन आता है। यदि ज्ञान में अंतरलक्ष कर के सीधी चैतन्यवस्तु को पकड़े तो वह अनुभव में आ सकती है। इसलिये श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी कहा है कि :—

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां
कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो,
तेह स्वरूपने अन्य वाणी तो शुं कहे ?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।

वचन और विकल्पों से अगोचर, और मात्र स्वानुभव से गोचर—ऐसा चैतन्यतत्त्व है। अहो! ऐसे चैतन्यस्वभाव का लक्ष संसार के जीवों को अति दुर्लभ है। चैतन्य का लक्ष दुर्लभ है,

किन्तु अशक्य नहीं है। दुर्लभ होने पर भी यथार्थ प्रयत्न से वह सुलभ हो सकता है। ऐसे चैतन्य-स्वभाव को लक्ष में लेकर उसकी महिमा करना-भावना करना, वह मांगलिक है। ऐसे चैतन्यतत्त्व को लक्ष में लिये बिना अन्य किसी भी प्रकार से मुक्तिमार्ग का प्रारम्भ नहीं हो सकता।

शास्त्रकार कहते हैं कि हमें चैतन्यतत्त्व के वर्णन का विकल्प उठा है और वाणी के योग से वाणी निकलती है, किन्तु अरे! चैतन्यतत्त्व तो इस विकल्प और वाणी दोनों से अगोचर है। वाणी तो जड़ है, वह चैतन्य से पृथक् है, और विकल्प विकार है, वह भी चैतन्य से विपरीत है, उसके द्वारा चैतन्यतत्त्व में नहीं पहुँचा जा सकता; अंतरंग ज्ञान द्वारा ही लक्ष में आये, ऐसा चैतन्यतत्त्व है। मैं ऐसे चैतन्यतत्त्व की प्राप्ति का ही साधक हूँ; वाणी और विकल्प हों भले, किन्तु मेरा ध्येय तो शुद्ध चैतन्यतत्त्व को प्राप्त करने का ही है। चैतन्यतत्त्व के वर्णन का विकल्प उठा है, तथापि "चैतन्यतत्त्व विकल्प से अगोचर है"—ऐसा कहकर वह विकल्प हेय कर डाला है, तथा "वाणी से भी चैतन्यतत्त्व अगोचर है" इसलिये वाणी की ओर भी जोर न रहा कि "मैं ऐसी वाणी निकाल कर सामनेवाले को चैतन्यतत्त्व समझा दूँ।" वाणी पर या विकल्प पर जोर नहीं है किन्तु चैतन्यतत्त्व पर ही जोर है, चैतन्यतत्त्व ही हमारा ध्येय है; इसलिये श्रोता से भी कहते हैं कि तू वाणी या विकल्प पर अपने लक्ष का जोर मत देना, किन्तु शुद्ध चैतन्यतत्त्व पर ही लक्ष का जोर देकर उसे ध्येय बनाना। "अरे! मेरा चैतन्य इस विकल्प से पार है"—इस प्रकार जहाँ ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके अंतर से चैतन्य की झनझनाहट आई, वहाँ चैतन्यतत्त्व लक्ष में आता है और उसके अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। अहो! हमारा आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है, वह वचनातीत है और विकल्प से भी पार है;—इसप्रकार स्वयं जागृत होकर पुरुषार्थ द्वारा चैतन्यतत्त्व के सन्मुख जाये तो अन्तर से चैतन्य को झन्कार जागृत हो और आनन्द का वेदन हो। संतों को ऐसा विकल्प उठा कि "अहो! ऐसा परम चैतन्यतत्त्व है, उसे जगत के जीव समझें और आत्मानन्द के सन्मुख हों।" ऐसे विकल्प सहित वाणी खिरी, किन्तु उस विकल्प या वाणी द्वारा आत्मा अनुभव में आ जाये, ऐसा नहीं है। तू विकल्प और वाणी का अवलम्बन छोड़कर ज्ञान द्वारा ही ज्ञानानन्दस्वभाव को पकड़ने का प्रयत्न कर तो तुझे वाणी निमित्त कही जायेगी। किन्तु चैतन्यतत्त्व तो वाणी से पार ही है। वाणी जड़-रूपी है, उसमें ऐसी शक्ति नहीं है कि अरूपी चैतन्यतत्त्व में प्रविष्ट हो जाये। वाणी तो चैतन्यतत्त्व के बाहर ही लोटती है। ऐसे चैतन्यतत्त्व को ज्ञान का लक्ष्य बनाकर उसका अनुभव करना, वह अपूर्व धर्म है, और वही केवलज्ञान की प्राप्ति का उपाय है।●●

आनन्द कहाँ है और आदरणीय क्या है ?

आत्मा का स्वभाव चिदानन्द है; ज्ञान और आनन्द उसके स्वभाव में ही भरे हैं; किन्तु अनादि से उसे भूलकर, बाह्य में आनन्द मानकर जीव, संसार में भटक रहा है। अनादि से संसार में परिभ्रमण करते हुए आत्मभान के सिवा अन्य सबकुछ किया; स्वर्ग में गया और नर्क में भी गया, रंक हुआ और राजा भी हुआ; किन्तु आत्मा के भान बिना उसे कहीं भी शांति नहीं हुई। शांति तो आत्मा के स्वभाव में है, उसे पहिचाने तो शांति प्रगट हो। शांति जहाँ भरी हो, वहीं से प्रगट होती है—बाहर से नहीं आती। जिस प्रकार चने में मिठास भरी है, इसलिये उसे सेकने पर उसी में से बाहर आती है; कड़ाही में से मिठास नहीं आती। उसी प्रकार आत्मा स्वयं ही आनन्दस्वभाव से भरपूर है; उसकी श्रद्धा करके उसमें एकाग्र होने पर उसी में से वह आनन्द प्रगट होता है; कहीं बाहर में नहीं आता। आत्मा के सिवा किन्हीं बाह्य विषयों में आनन्द मानना, वह भ्रांति है। पर में आनन्द मानने से जो राग होता है, उस राग में भी आनन्द नहीं है। हिंसादि पाप का राग तो दु:खदायक है और दया-दानादि का पुण्य राग होता है, वह भी दु:खरूप है; उसमें चैतन्य का आनन्द या शांति नहीं है।

आत्मा के स्वभाव में आनन्द है, उसे भूलकर बाह्य में और राग में आनन्द माना, तथापि जीव के स्वभाव में जो आनंद भरा है, उसका नाश नहीं हो गया है। जिस प्रकार कच्चे चने का स्वाद कसैला लगता है, तथापि उसके स्वभाव में जो मीठा स्वाद है; उसका नाश नहीं हो गया है; उसे सेकने से वह मिठास बाहर प्रगट हो जाती है। उसी प्रकार अज्ञानभाव के कारण अनादि से जीव संसार में दु:खी है, तथापि उसमें आनन्दस्वभाव भरा है; सम्यक्श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र द्वारा आत्मा का प्रतपन करने से उस आनन्द का अनुभव होता है। प्रथम अन्तर्मुख स्वभाव की श्रद्धा करके सम्यग्दर्शन करते ही निर्विकल्प आनन्द के अंश का अपूर्व स्वाद आता है, और पूर्णाननद प्रतीति में आ जाता है कि-अहो! सिद्ध भगवान जैसा परिपूर्ण आनन्द तो यहीं भरा है। ऐसे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भान होने से बाह्य विषय तुच्छ भासित होते हैं; उनमें कहीं स्वप्न में भी सुख

भासित नहीं होता। आनन्दनिधान चैतन्यमूर्ति आत्मा की रुचि छोड़कर बाह्य की रुचि करना संसार का कारण है और आत्मा के आनन्द स्वभाव की रुचि करना, वह मोक्ष का कारण है।

भाई! अनादिकाल से तू संसार में भटक रहा है, उसमें तेरे आत्मा का आनन्दस्वभाव भी तेरे साथ ही साथ है; आत्मा की शक्ति में जो आनन्दस्वभाव भरा है, वह कभी उससे पृथक् नहीं होता; किन्तु अनादिकाल से जीव ने कभी उस ओर उन्मुख होकर स्वशक्ति की संभाल नहीं की; इसलिये उस आनन्द का अनुभव नहीं होता। मेरे आत्मा का आनन्द-स्वभाव ज्यों का त्यों है—इसप्रकार स्वभावशक्ति की संभाल करके उसमें एकाग्र होने से आत्मानन्द का अनुभव होता है।

यह शरीर जड़ है; इसमें कहीं आत्मा का आनन्द नहीं है। शरीर, आत्मा से पृथक् है, उसकी कोई क्रिया आत्मा नहीं कर सकता। शरीर की क्रियायें स्वयं होती हैं; वहाँ "इसे मैं करता हूँ"—इस प्रकार अज्ञानी उसका अभिमान करता है; उसे जड़ से भिन्न आत्मस्वरूप की खबर नहीं है। भाई! तेरा आत्मा तो ज्ञान है, वह जड़ में क्या करेगा? शरीर में रोग हो, उसे ज्ञान जानता है किन्तु रोग मिटाने की उसकी शक्ति नहीं है। शरीर में रोग हो जाये, ऐसी इच्छा न होने पर भी रोग हो जाता है; उसे आत्मा नहीं रोक सकता। निकट रहनेवाले इस शरीर का कार्य भी जीव के आधीन नहीं होता, तब फिर अन्य परपदार्थों के कार्य आत्मा करे—यह तो बात ही कहाँ रही? जड़-चेतन की एकाग्रता की एकत्वबुद्धि से अज्ञानी को अनादिकाल से भ्रमणा का रोग लग गया है; वह रोग कब दूर हो, उसकी यह बात है। मैं तो ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ, ज्ञान के सिवा अन्य कोई कार्य मेरा नहीं है; यह शरीरादि परपदार्थ मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं, किन्तु उनके कार्य मेरे नहीं हैं, वे पदार्थ मुझसे पृथक् हैं; मेरा शुद्ध चिदानन्द तत्त्व ही मेरा स्वज्ञेय है और उस स्वज्ञेय में ज्ञान के एकता से जो वीतरागी निर्मल आनन्ददशा प्रगट हुई, वह मेरा कार्य है।—ऐसा यथार्थ अन्तरभान करने से अनादिकालीन भ्रमणा नश्ट हो जाती है, और पर के कार्य मैं करता हूँ—ऐसा अभिमान नहीं होता। ऐसा भान करना, वह अपूर्व धर्म का प्रारम्भ है, और उसी से आत्मा की महत्ता है।

अज्ञानी लोग चैतन्यस्वभाव की महिमा नहीं जानते, इसलिये लक्ष्मी आदि बाह्य संयोगों से आत्मा की महत्ता मानते हैं; किन्तु वास्तव में बाह्य संयोगों से आत्मा की महत्ता नहीं है। अंतरस्वभाव की प्रभुता का अवलम्बन करने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागी धर्म प्रगट हो, उसके द्वारा आत्मा की महत्ता है और उसी में आत्मा की शोभा है। देखो, जगत में महान चक्रवर्ती और इन्द्र भी मुनिराज आदि संतों के चरणों में नमस्कार करते हैं; मुनिराज के पास तो पैसे

आदि का कोई संयोग नहीं है और चक्रवर्ती के यहाँ धन के ढेर हैं, तथापि वे चक्रवर्ती, मुनि के चरणों में क्यों नमस्कार करते हैं ?—क्योंकि मुनिराज के निकट आत्मा के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म की अधिकता है; इसलिये चक्रवर्ती भी उनके चरणों में वंदन करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पुण्य के फल की अपेक्षा धर्म की अधिक महिमा है; संयोग से आत्मा की महत्ता नहीं है किन्तु आत्मा में जो वीतरागी धर्म प्रगट हुआ, उसी से आत्मा की महत्ता है; पुण्य या पुण्य के फल आदरणीय या वंदनीय नहीं हैं, किन्तु वीतरागी धर्म ही आदरणीय और वन्दनीय है। इसलिये जो जीव, पुण्य का या पुण्य के फल का आदर न करके आत्मा का वीतरागी धर्म ही आदरणीय है—ऐसा समझता है, उसने धर्मात्मा का सच्चा आदर या नमस्कार किया है; यदि पुण्य का या संयोग का आदर करे तो उसने धर्मात्मा का सच्चा आदर या नमस्कार नहीं किया है। धर्म और पुण्य—दोनों वस्तुयें पृथक् हैं—यह बात भी अनेक जीवों की समझ में नहीं आती, और पुण्य को ही धर्म मानकर उसका आदर करते हैं; ऐसे जीव तो मिथ्यादृष्टि हैं; वे पुण्य करें तो भी संसार में ही भटकते हैं। जिन्हें अंतर में संयोग से पार चिदानन्दस्वभाव का भान है—ऐसे धर्मात्मा को महान पुण्यवान भी नमस्कार करते हैं; इसलिये पुण्य आदरणीय नहीं है किन्तु आत्मा का वीतरागी धर्म ही आदरणीय है।

जगत में धन-मकान-स्त्री आदि बाह्य वस्तुयें तो आत्मा से पृथक् ही हैं; वे कहीं आत्मा में नहीं आ गई हैं और उनमें आत्मा का संसार नहीं है; किन्तु स्व-पर की भिन्नता से च्युत होकर आत्मा उनकी ममता करता है, वह ममत्वभाव ही आत्मा का संसार है। स्व-पर की भिन्नता का भान करके जिसने पर की ममता छोड़ दी और अपने चिदानन्दस्वभाव में एकता करके समता प्रगट की, उसके संसार का नाश होकर मोक्षमार्ग प्रगट होता है। बाह्य में गृह-कुटुम्ब-लक्ष्मी छोड़कर वन में चला जाये तो लोग कहते हैं कि उसने संसार छोड़ दिया; किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि चैतन्यस्वरूप के भान बिना उसने संसार छोड़ा ही नहीं! परवस्तु मेरी थी और उसे मैंने छोड़ दिया—ऐसी स्व-पर की एकत्वबुद्धि से मिथ्यात्वभावरूप संसार तो उसके साथ ही साथ है। और ज्ञानी सम्यक्त्वी गृहवास में हो—व्यापार-धंधा और कुटुम्ब के बीच रहते हों, तथापि अंतर के चिदानन्दस्वभाव की दृष्टि में उनको सारा संसार छूट गया है; अभी अस्थिरता के राग जितना अल्प संसार है, किन्तु "मैं तो चिदानन्दस्वरूप ही हूँ, राग या संयोग में नहीं हूँ"—ऐसी अंतरस्वभाव की दृष्टि के परिणमन में संसार का स्वामित्व छूट गया है। ऐसी अंतरदृष्टि प्रगट किये बिना चाहे जितना बाह्यत्याग और राग

की मन्दता हो, तथापि उसे बिलकुल धर्म नहीं होता और संसार का अन्त नहीं आता; और ऐसी अपूर्व अंतरदृष्टि प्रगट करने से अल्पकाल में ही संसार का अंत आकर मोक्षदशा प्रगट होती है।

जीव ने अंतर में आल्हाद लाकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप की बात पहले कभी नहीं सुनी है, पर की ही बात सुनी है। चैतन्यस्वरूप का यथार्थ श्रवण भी जीव को महँगा है, तब फिर उसे समझकर अंतर में उसकी रुचि का प्रयत्न कैसे करे? अहो! जीव को ऐसी बात का श्रवण भी कभी-कभी महाभाग्य से प्राप्त होता है। प्रथम तो अंतरंग स्वीकृतिपूर्वक सत्य का श्रवण करके सत्य-असत्य का निर्णय करना चाहिये, फिर उसका अंतरपरिणमन होता है। किन्तु अभी जिसका श्रवण ही विपरीत हो और निर्णय में भूल हो, उसके सत्य का परिणमन तो कहाँ से होगा? जीव अनादिकाल से अन्य प्रयत्नों में लग रहा है किन्तु अपने स्वभाव की समझ का यथार्थ प्रयत्न उसने कभी नहीं किया, इसलिये उसकी समझ की बात कठिन मालूम होती है और कोई बाह्य से धर्म मनवाये तो वह बात तुरन्त जम जाती है। किन्तु भाई! पुण्य से हित होता है-ऐसी उलटी बात तो तुझे अनादि से जमी ही है; अंतर के चिदानन्दतत्त्व की समझ बिना तेरे भवभ्रमण का अंत नहीं आ सकता! इसलिये उसकी रुचि करके सत्समागम से उसे समझने का प्रयत्न कर तो अंतर का चैतन्यस्वभाव अवश्य समझ में आ सकता है। जगत की दरकार न करके एकबार आत्मा की दरकार कर तो आत्मस्वभाव का अनुभव हुए बिना नही रहेगा। इस विधि के सिवा अन्य किसी विधि से धर्म नहीं होगा। जिस प्रकार हलुवा आदि बनाना हो तो पहले उसकी विधि समझकर तदनुसार करते हैं, उसी प्रकार जिसे आत्मा की मुक्ति करना हो, उसे उसकी विधि प्रथम जानना चाहिये। पहले ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा को पहिचानकर उसकी सच्ची श्रद्धा और ज्ञान होता है, तत्पश्चात् उसमें लीनता द्वारा चारित्र होता है;—वह सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र, मोक्ष का कारण है; उसमें भी पहले सम्यक्श्रद्धा करना, वह उसका मूल है; सम्यक्श्रद्धा के बिना कभी धर्म के प्रारम्भ का अंश भी नहीं हो सकता।

[वीर सं. २४८० माघ शुक्ला ७ के दिन वडिया ग्राम में पूज्य गुरुदेव के प्रवचन से]

जिसने आत्मा को जान लिया उसने सब कुछ जान लिया

[फाल्गुन कृष्णा ३ के दिन राणावाव ग्राम में पूज्य गुरुदेव का प्रवचन : तत्त्वज्ञानतरंगिणी श्लोक-१९]

जीव ने बाह्य कलाएँ तो अनन्तबार जानी हैं, किन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप कभी नहीं जाना। ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके आत्मा को स्वज्ञेय बनाना, वह अपूर्व कला है। अहो, स्वसन्मुख होकर जिसने अपने स्व-पर प्रकाशक स्वज्ञेय को जान लिया, उसे दूसरा कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। ज्ञान को स्वसन्मुख करके शुद्ध चिद्रूप स्वज्ञेय को जानने से रागरहित आनन्द का अपूर्व स्वाद आता है। एकबार भी शुद्ध आत्मा को स्वज्ञेय बनाये तो अल्पकाल में मुक्ति हो जाये।

इस जगत में एक शुद्धचिद्रूप आत्मा ही परम आदरणीय है; जिसने शुद्ध आत्मा को जान लिया, उसे दूसरा कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता—ऐसे इस तत्त्वज्ञान तरंगिणी के १९ वें श्लोक में कहते हैं:—

''ज्ञेयं दृश्यं न गम्यं मम जगति किमप्यस्ति कार्यं न वाच्यं;
ध्येयं श्रव्यं न लभ्यं न च विशदमतेः श्रेयमादेयमन्यत्।
श्रीमत्सर्वज्ञवाणीजलधिमथनात् शुद्धचिद्रूप रत्नं;
यस्माल्लब्धं मयाहो कथमपि विधिनाऽप्राप्तपूर्वं प्रियं च।''

अन्तर्मुख होकर जिन्होंने अपने शुद्ध चिदानन्दतत्त्व को जान लिया है—ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा कहते हैं कि—अहो! भगवान श्री सर्वज्ञदेव की दिव्यवाणीरूपी समुद्र का मंथन करके, पूर्वकाल में कभी प्राप्त न किये हुए ऐसे, प्रिय चिद्रूपरत्न को मैंने किसी भी प्रकार से प्राप्त कर लिया है; इसलिये अब विशुद्धमति—ऐसे मुझे इस जगत में शुद्धचिद्रूप आत्मा के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ज्ञेय नहीं है, अन्य कुछ दृश्य नहीं है, अन्य कुछ प्राप्त करने योग्य नहीं है; अन्य कुछ कार्य नहीं है, अन्य कुछ वाच्य नहीं है, अन्य कुछ ध्येय नहीं है, अन्य कुछ श्रवण योग्य नहीं है, और अन्य कुछ श्रेयरूप या आदेय नहीं है।

आत्मा का ज्ञानस्वभाव है, किन्तु उसने ज्ञान द्वारा स्वज्ञेय को जानने का प्रयत्न पूर्व अनंतकाल में कभी नहीं किया। ज्ञान को अन्तर्मुख करके "मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ"—ऐसा स्वज्ञेय का ज्ञान जीव ने पहले कभी नहीं किया। मैं आत्मा ज्ञानमूर्ति हूँ—इस प्रकार जिसने स्वज्ञेय को जाना, उसे अन्य कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता। आत्मा का स्वभाव तो स्व-पर को जानने का है; किन्तु अनंतकाल से स्वज्ञेय को चूककर अकेले परज्ञेय को ही जानने में रुका, इसलिये संसार में भटका। सबको जाननेवाला मैं स्वयं ज्ञानस्वरूप हूँ—इस प्रकार स्वयं अपना ज्ञान कभी नहीं किया। भाई! पाँच-पच्चीस वर्ष की बात स्मृति में आती है, उसे कौन याद करता है? याद करने की शक्ति तो ज्ञान में है; वह ज्ञान मैं हूँ—इस प्रकार जिसने स्वज्ञेय को जाना, उसने सब जान लिया।

आत्मा, देह से भिन्न अनादि-अनंत तत्त्व है; वह स्वयं ज्ञान-आनन्दस्वरूप है। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वभाव है और स्वयं अपना ज्ञेय भी है। परज्ञेयों को जानने से वे पर ज्ञेय कहीं ज्ञान में नहीं आ जाते; स्वयं परज्ञेयों से पृथक् रहकर उन्हें जानता है और स्वज्ञेय को उसी में तन्मय होकर जानता है; उस ज्ञान के साथ आनन्द का अनुभव है। ज्ञान का स्वभाव पर से और विकार से भिन्न है। चरपराहट को जानने से ज्ञान चरपरा नहीं हो जाता; अग्नि को जानने से गर्म नहीं हो जाता, अफीम को जानने से कड़वा नहीं हो जाता; और राग को जानने से वास्तव में रागरूप नहीं हो जाता; ज्ञान तो राग से भी पृथक् है; किन्तु ऐसे भिन्न ज्ञानतत्त्व को जीव ने कभी लक्ष में नहीं लिया है। जीव, पर को जानता है, किन्तु पर का ज्ञाता "मैं कौन हूँ"—इस प्रकार अपने को नहीं जानता; इसलिये स्व में अंधकार है; स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान अपना है, किन्तु स्वयं अपने को नहीं जानता, इसी से संसार है। अहो! स्वसन्मुख होकर जिसने अपने स्व-पर-प्रकाशक स्वज्ञेय को जाना, उसे कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। ज्ञान को स्वसन्मुख करके शुद्ध चिद्रूप स्वज्ञेय को जानने से रागरहित आनंद का अपूर्व स्वाद आता है।

आत्मा का स्वभाव तो स्व-पर सबको जानने का है; किन्तु अनादि से स्वयं अपने को नहीं जानता और पर को जानते हुए वहीं अपनत्व मानकर अटक जाता है, इसलिये अज्ञान और संसार है। ज्ञान, पर को जानने में अटकता है, उसके बदले अन्तरोन्मुख होकर जिसने स्वज्ञेय को जाना, उसने सारे जगत को जान लिया। स्वयं जगत का ज्ञाता है; इसलिये जिसने अपने ज्ञानस्वभाव को जाना, उसने सबकुछ जान लिया है। आत्मा के ज्ञानस्वभाव को जानना ही भगवान की दिव्यध्वनि का सार है। जिसने अंतर्मुख होकर अपने शुद्ध चिदानन्द आत्मा को जाना, उसे जगत में अन्य कुछ

जानना बाकी नहीं रहता; अर्थात् जिसने आत्मा को जान लिया, उसने सब जान लिया।

जीव ने बाहरी कला अनन्तबार जानी है, किन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप अनन्तकाल से नहीं जाना है; भाई! तेरा आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप है, ऐसे आत्मा को स्वज्ञेय बनाना ही ज्ञान की अपूर्व कला है। अंतरोन्मुख होकर चैतन्यतत्त्व को ज्ञान का ज्ञेय बनाने से अंतर में आनन्द की अपूर्व तरंगें उठें, उसका नाम धर्म है। ज्ञान मेरी वस्तु है, ज्ञान मैं हूँ—इस प्रकार जिसने अंतर में ज्ञानतत्त्व को प्राप्त किया, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया; जिसने ज्ञानतत्त्व को स्वज्ञेयरूप से जान लिया, उसने सब जान लिया। जगत की समस्त कलाएँ भले ही जानता हो, किन्तु आत्मा को न जाना तो उसने कुछ नहीं जाना। हीरा-माणिक-मोतियों की परख करता हो, हाथी-घोड़े परखता हो, किन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं कौन है, उसे तो नहीं पहिचानता, उस जीव ने कुछ नहीं जाना। इस संबंध में एक दृष्टांत:—एक राजा के पास एक जौहरी आया और उसने एक रत्न बतलाया। राजा ने सब दरबारियों से उसका मूल्यांकन करने को कहा। सबने मूल्य कूता, लेकिन एक अनुभवी जौहरी ने उसका मूल्यांकन किया कि—इसके एक पाँसे में जरा-सा दाग है; अगर वह दाग न होता तो इस रत्न का मूल्य करोड़ों स्वर्णमुद्रा होता। राजा ने प्रसन्न होकर जौहरी को इनाम देने की घोषणा की और वह कार्य अपने मंत्री को सौंपा। मंत्री धर्मात्मा था; उसने विचार किया कि—ऐसा कुछ करूँ जिससे इस जौहरी का हित हो। ऐसा सोचकर उसने जौहरी से पूछा कि—जौहरी जी! आप रत्न को परख करना तो जानते हैं; किन्तु इस देह मंदिर में जो चैतन्यरत्न है, उसे परख लेते हैं? जौहरी बोला : भाई! उसे तो मैंने कभी नहीं जाना। मन्त्री ने कहा : ठीक, कल आप राजसभा में आना, उस समय निर्णय करेंगे कि आपको क्या इनाम दिया जाये। दूसरे दिन मन्त्री ने राजसभा में जाकर कहा कि "इस जौहरी को इनाम में सात जूते मारो।" मन्त्री की यह बात सुनकर सब दरबारी अचंभे में पड़ गये। मन्त्री ने जौहरी को संबोधन करके कहा : "देखो भाई! तुमने जवाहिरात की परख करना तो सीखा, लेकिन इस देह में विद्यमान चैतन्यरत्न क्या वस्तु है, उसकी तुम्हें खबर नहीं है, तो उस चैतन्य के भान बिना यह भव पूरा करके कहाँ जाओगे? जवाहिरात को परखना सीख लिया, किन्तु सबका ज्ञाता आत्मा स्वयं कौन है, उसे पहिचाने बिना कल्याण नहीं होगा; इसलिये अब चैतन्यस्वभाव को पहिचानने की दरकार करो। मन्त्री जी की बात सुनकर चतुर जौहरी समझ गया और राजा से बोला कि दीवानजी ने मुझे सात जूते मारने का जो इनाम देने को कहा है, वह ठीक है, सात नहीं किन्तु चौदह जूते मारना चाहिए। अरे रे! मैंने सबकुछ

जाना, किन्तु स्वतत्त्व को कभी नहीं जाना, उसे जानने की कभी दरकार भी नहीं की। स्वतत्त्व को जाने बिना सब जानकारी व्यर्थ है।'' इस प्रकार जो जीव अपने चैतन्यतत्त्व को नहीं जानता और स्व को चूककर अकेले परतत्त्व को जानने में अटकता है, वह संसार परिभ्रमण करके चौरासी के अवतारूपी जूते खाता है। अहो! मैं तो ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ—इस प्रकार जिसने एक चैतन्यतत्त्व जाना, उसने सब जान लिया है। सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी में से क्या सार निकालें?—कि मैं ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा हूँ—ऐसा जो समझा, उसने सर्वज्ञ की वाणीरूपी समुद्र का मंथन करके उसमें से चैतन्यरत्न निकाल लिया। जिस प्रकार समुद्र में गोता लगाकर रत्न निकाल लाते हैं, उसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है—ऐसा जिसने जाना है, उस जीव ने ज्ञानरूपी समुद्र में गोता लगाकर चैतन्यरत्न को प्राप्त कर लिया है; उसे अब जगत में अन्य कुछ प्राप्त करने योग्य नहीं रहा।

प्रत्येक आत्मा की शक्ति में सर्वज्ञता भरी है। जो सर्वज्ञ हुए, उन्होंने वह सर्वज्ञता आत्मा की शक्ति में से ही प्रगट की है। सर्वज्ञ भगवान जैसी ही परिपूर्ण शक्ति प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है। जिस प्रकार लेंडी पीपर के प्रत्येक दाने में चौंसठपुटी चरपराहट होने की शक्ति है, उसी प्रकार प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञता प्रगट होने की परिपूर्ण शक्ति है। ऐसे अपने आत्मा को स्वज्ञेय बनाकर उसमें एकाग्रता द्वारा मंथन करे तो वह सर्वज्ञता प्रगट हो। जिसने चिदानन्द स्वभावी आत्मा को देखा और जाना, उसे अब जगत में दूसरा कुछ भी जानना—देखना बाकी नहीं रहता। अंतर्मुखदृष्टि करके जिसने चैतन्यतत्त्व का दर्शन किया, उसने जगत में सब कुछ देख लिया; और जिसने अंतर में चैतन्यतत्त्व को नहीं देखा, उसने वास्तव में कुछ नहीं देखा।

चैतन्यतत्त्व कैसे दिखाई देता है? क्या इन बाह्य नेत्रों से दिखाई देता है?—नहीं; वह आँख तो जड़ है, किन्तु भीतर आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उस ज्ञान को अन्तर्मुख एकाग्र करके आत्मा को स्वज्ञेय बनाये तो आत्मा का यथार्थ ज्ञान और दर्शन होता है। अंतर के चिदानन्दस्वरूप स्वज्ञेय को जिसने नहीं जाना और नहीं देखा, उसका सब जानना और देखना व्यर्थ है। ज्ञाता स्वयं, और अपने को ही न जाने तो वह ज्ञान मिथ्या है। ''मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ''— इस प्रकार अंतर्मुख होकर जिसने शुद्ध चैतन्यरत्न प्राप्त कर लिया, उसने सब कुछ प्राप्त कर लिया। जगत में कोई सर्वोत्तम प्राप्त करने योग्य वस्तु हो तो यह चैतन्यरत्न ही है। जिसने इस चैतन्यरत्न को प्राप्त नहीं किया—ज्ञानगम्य नहीं किया, उसने कुछ प्राप्त नहीं किया। पैसादि तो जड़ वस्तुएँ हैं, वे कहीं आत्मा को प्राप्त करने

योग्य नहीं हैं; पैसा कहीं आत्मा में प्रविष्ट नहीं हो जाता। पुण्य से बाह्य में पैसादि का संयोग भले हो, किन्तु उससे आत्मा का कोई हित नहीं है। पैसा तो जड़ वस्तु है, उससे भिन्न चैतन्यतत्त्व क्या है, वह जानकर जिसने उसे प्राप्त कर लिया, उसने सबकुछ प्राप्त कर लिया है। चैतन्यतत्त्व से उत्तम जगत में कुछ नहीं है।

जीव ने अपने आत्मतत्त्व को जानने की कभी दरकार ही नहीं की। पैसादि कैसे मिलें—ऐसे पापभाव में रुका है, और अधिक किया तो पुण्यभाव में धर्म मानकर वहाँ अटक गया, किन्तु पुण्य-पाप से पार मेरा चैतन्यस्वरूप क्या है—उसका ज्ञान कभी नहीं किया। पूर्व प्रारब्ध के कारण धर्मात्मा को भी बाह्य में लक्ष्मी आदि का संयोग होता है, किन्तु वहाँ वह जानता है कि यह लक्ष्मी मेरा प्राप्य नहीं है, मेरा प्राप्य (प्राप्त करने योग्य) तो एक चैतन्यतत्त्व ही है। मेरे शुद्ध चैतन्यतत्त्व से बाह्य जितने भाव हैं, वे कोई मेरा स्वरूप नहीं हैं। निचलीदशा में धर्मी को पुण्य-पाप का राग होता है, किन्तु उसे वह अपना प्राप्य नहीं मानता; धर्मी जानता है कि मुझे प्राप्त करने योग्य जगत में कुछ हो तो वह रागरहित मेरा चिदानन्दतत्त्व ही है। इस प्रकार अपने श्रद्धा-ज्ञान में जिसने शुद्ध चिदानन्दतत्त्व को प्राप्त किया है, वह धर्मात्मा दूसरा कुछ भी प्राप्त करने योग्य नहीं मानता।

धर्मात्मा कहते हैं कि अहो! मेरा ज्ञानतत्त्व ही मुझे गम्य है, वही मेरा ज्ञेय है, और वही मेरा दृश्य है; अपने ज्ञानानंद चैतन्यतत्त्व को मैंने जाना-देखा और प्राप्त कर लिया, तो अब जगत में दूसरा कुछ मुझे जानने-देखने या प्राप्त करने योग्य नहीं रहा। और जिसने चैतन्यतत्त्व को जाना नहीं, देखा नहीं, प्राप्त नहीं किया, उसका सब ज्ञातृत्व व्यर्थ है। अहो! जिसे पहले कभी नहीं जाना—ऐसे अपने आत्मतत्त्व को जानना ही अपूर्व कार्य है। पुण्य और उसके फल तो जीव ने पहले अनन्तबार प्राप्त कर लिये हैं, उसमें कुछ भी अपूर्वता नहीं है; किन्तु पुण्य से पार ज्ञानानन्द तत्त्व को जानकर उसके अतीद्रिंय आनन्द का अनुभव जीव ने पहले कभी प्राप्त नहीं किया, इसलिये वह अपूर्व है। धर्मी कहते हैं कि अहो! हमने अपने चैतन्यरत्न को पहिचानकर उसकी प्राप्ति कर ली है, तो अब जगत में हमें दूसरा क्या जानने योग्य और प्राप्त करने योग्य रहा?—कुछ भी नहीं।

और धर्मात्मा कहते हैं कि अहो! अपने चिदानन्दस्वभाव के सन्मुख होकर उसे जानने का कार्य हमने कर लिया, तो करने योग्य सब कुछ कर लिया है, अब दूसरा कोई कार्य करना हमें बाकी नहीं रहा। पर का कार्य तो कभी कोई जीव कर ही नहीं सकता; अज्ञानी अपने चैतन्यस्वभाव को चूककर पर में "मैं करता हूँ—मैं करता हूँ"—ऐसा मानता है, इसलिये उस मिथ्या मान्यता से

वह संसार में भटकता है। ''मैं तो ज्ञान हूँ, पर के कार्य मेरे नहीं है''—इस प्रकार स्वज्ञेय को जानने का कार्य जीव ने पहले कभी नहीं किया। अज्ञान से पुण्य-पाप को ही अपना कार्य मानकर जीव वहाँ अटका है। धर्मी जानते हैं कि हमारा चैतन्यस्वभाव, पुण्य-पाप से पार है; पुण्य-पाप भी हमारा कर्तव्य नहीं है, अपने चैतन्य के सन्मुख होकर उसे जानना, देखना और उसमें लीन हरना ही हमारा कर्तव्य है। अंतर में चैतन्यतत्त्व को जानने का कार्य जिसने कर लिया, उसने करने योग्य सब कर लिया। जगत में अगर कुछ करने योग्य कार्य हो तो वह ज्ञान को अंतर्मुख करके स्वज्ञेय को पकड़ना ही है; यह कार्य जिसने कर लिया, उसे अब दूसरा कुछ करना नहीं रहा। अन्तरस्वभाव की दृष्टि में धर्मी कृतकृत्य हैं। ऐसी दृष्टि प्रगट होने के बाद धर्मी को राग भी होता है; किन्तु उसे वे अपना कार्य नहीं मानते; राग और ज्ञान के बीच भेद पड़ गया है; इसलिये वे जानते हैं कि हमारा कार्य तो स्वतत्त्व को जानना, देखना और उसमें एकाग्रता द्वारा उसकी प्राप्ति करना ही है। हमारे चैतन्यतत्त्व से भिन्न जो भाव हैं, उनके हम ज्ञाता हैं और वे हमारे ज्ञेय हैं, किन्तु वह हमारा कर्तव्य नहीं है; अपने स्वज्ञेय के साथ ज्ञान की एकता हुई, वही हमारा कर्तव्य है।

ज्ञान को अन्तर्मुख करके लिसने चैतन्यतत्त्व को पकड़ लिया, उसने दिव्यध्वनि का सार ग्रहण कर लिया, अब उसे दूसरा कोई वाच्य बाकी नहीं रहा। धर्मी कहते हैं कि हमारा वाच्य तो शुद्ध आत्मा ही है। चैतन्यतत्त्व, वाणी और विकल्प से पार है; उसका भान होने पर धर्मी को वाणी का स्वामित्व उड़ गया है। अभी वाणी का संयोग भले हो, किन्तु धर्मी जानते हैं यह वाणी हमारे चैतन्य से भिन्न है, हम वाणी के कर्ता नहीं है और न वाणी द्वारा हमारा आत्मा लक्ष में आता है; हम तो ज्ञान हैं और अतीन्द्रियज्ञान से ही अपना आत्मा लक्ष में आये, ऐसा है। हमने अपने ज्ञान को अन्तरोन्मुख करके अपने आत्मा को ही अपना वाच्य बनाया है, इसलिये दूसरा कुछ हमारे वाच्य नहीं रहा। अज्ञानी तो वाणी का अभिमान करता है—मेरी इच्छा के कारण वाणी बोली जाती है, अथवा वाणी के अवलंबन से मुझे लाभ है—ऐसा मानकर वह पर में अटक जाता है, किन्तु चैतन्य को अपना वाच्य नहीं बनाता। भाई! वाणी तो जड़ है, वह कहीं तेरी इच्छा का कार्य नहीं है। मरते समय बोलने की तीव्र इच्छा होने पर भी कई लोग बोल नहीं पाते, क्योंकि वाणी का निकलना या न निकलना, वह चैतन्य का कार्य नहीं है। वाणी, आत्मा से भिन्न है; आत्मा तो ज्ञानस्वभावी तत्त्व है; ज्ञान ही उसका धर्म है। ऐसे ज्ञानतत्त्व को जिसने ज्ञान में पकड़ लिया, उसे अब जगत में दूसरा कुछ भी वाच्य नहीं रहा।

अहो, यह मनुष्य अवतार पाकर, सत्समागम से अपने चैतन्यतत्त्व की पहिचान करने योग्य है। ''मैं कौन हूँ और मेरा स्वरूप क्या है''—उसकी पहिचान बिना अभी तक जीव भवभ्रमण कर रहा है; आत्मा की पहिचान बिना उस भवभ्रमण का अन्त नहीं आ सकता। यहाँ तो भवभ्रमण का अन्त कैसे आये, उसकी बात है। जगत में जानने योग्य हो तो यह चैतन्यतत्त्व ही है कि जिसे जानने से भवभ्रमण का अन्त आये और मुक्ति हो। एक चैतन्यतत्त्व को जिसने जान लिया, उसने जानने योग्य सबकुछ जान लिया। मरते समय अमुक बाल लक्ष में हो और कहने की इच्छा हो, किन्तु वाणी नहीं निकलती। देखो, वहाँ ''वाणी'' बंद हो जाती है, किन्तु ''ज्ञान'' बंद होता है ? वाणी रुक जाने पर भी ज्ञान का कार्य तो चलता ही रहता है; इसलिये वाणी बोलना वह कहीं आत्मा का कार्य नहीं है; आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा की पहिचान करने का नाम धर्म है; वही करने योग्य है। यह मनुष्यभव पाकर भी जिसने अपने आत्मा को नहीं पहिचाना उसने वास्तव में कुछ नहीं किया।

शीघ्र प्रकाशित हो रहा है !

क्रमबद्धपर्याय—प्रवचन

दूसरा भाग

[प्रवचन संख्या ५]

आपके स्वाध्याय के लिये

तत्त्वज्ञानतरंगिणी [हिन्दी]

सजिल्द २-६-० अजिल्द २-०-०

प्राप्ति स्थान

जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये जमनादास माणेकचंद रवाणी